# सत्यांश

### *कोई नहीं तो कौन?*

चुनाव में मतदान कराने वाली इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन यानी ईवीएम में 'नोटा' यानी नॉन ऑफ द एबव अर्थात् 'इनमें से कोई नहीं' के विकल्प का बटन लगते ही लोगों ने इसका जोरदार स्वागत किया है, वह भी बिना किसी प्रचार-प्रसार वाले विज्ञापन के, बिना नेतृत्व व संगठन के और बिना किसी भय व प्रलोभन के। अल्प समय की सूचना से मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, दिल्ली एवं मिजोरम के विधानसभा चुनाव में ग्यारह करोड़ मतदाताओं में से लगभग सत्रह लाख ने मतदान केन्द्र पर जाकर 'इनमें से कोई नहीं' यानी 'नोटा' को वोट दिया। इस प्रकार उन लोगों ने किसी को भी वोट नहीं दिया। 'नोटा' को कम-अधिक सब जगह वोट मिले, जो इसके स्वतःस्फूर्त जनाधार का परिणाम है। आधुनिक लोकतंत्र की बहुदलीय चुनाव पद्धति में कभी इसको, कभी उसको वोट डाल-डालकर ठगाते रहे लोग अब ऊबने लगे हैं। नोटा का मत इसी उबकाई की अभिव्यक्ति है। यद्यपि यह मत बहुत अधिक नहीं है, पर इतना अवश्य है, जितने की आबादी पर विश्व के लगभग पचास देशों का लोकतंत्र अपने-अपने ढंग से कायम है। यही देखकर कुछ अवसर-पारखी परिवर्तनकामी लोगों में सुगबुगाहट जगी है कि क्यों न इस वोट बैंक को किसी प्रकार अपनी तरफ खींचा जाए। फलस्वरूप, कई प्रयास प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में शुरू हो गए हैं, जिनकी असफलता असंदिग्ध है। वोटों पर नजर रखना सहज है; परंतु खासकर 'नोटा' वाले मतों को अपने पक्ष में लाना दुरूह है।

हमारी चिंता दूसरी है। 'इनमें से कोई नहीं' का जो दावेदार अथवा सौदागर होगा, वह भी उनमें से कोई-न-कोई तो होगा और नहीं होगा तो मतदान के दिन तक हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, ऐसे-वैसे या कैसे भी एक ढाँचे का रूपाकार ग्रहण कर व्यक्ति-दल के नाम व चुनाव-चिन्ह के साथ ज्योंही वह प्रकट होगा, त्योंही ईवीएम मशीन में 'नोटा' के बटन के ऊपर एक बटन उसके लिए भी सुरक्षित कर दिया जाएगा। अभी 'नोटा' का बटन सबसे नीचे रखा जाता है, भविष्य में कभी यह ऊपर भी लग सकेगा, ऐसा सोचा जा सकता है। फिलहाल 'इनमें से कोई नहीं' के बटन के ऊपर जब 'नोटा' वोटों के लालायित का बटन होगा, तो उस पर भी 'नॉन ऑफ द एबव' यानी 'ऊपर के इनमें से कोई नहीं' का नियम स्वतः लागू हो जाएगा। इसके लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं होगी। इस प्रकार 'नोटा' वोटों के आकांक्षियों का भी 'नोटा' प्रतिद्वन्द्वी होगा। 'इनमें से कोई' में चाहे कोई भी सम्मिलित हो जाए, वह उनमें से 'कोई नहीं' का विकल्प नहीं हो सकता। वह 'नोटा' का अस्तित्व खत्म नहीं कर पाएगा। 'इनमें से कोई' में जो शामिल है, वह 'इनमें से कोई नहीं' के वोटों से स्वतः वंचित है। इसलिए वोटों के दावेदारों-सौदागरों के बूते की बात नहीं है नोटा मतों को अपने पक्ष में करना। तब क्या 'कोई नहीं' पार्टी का गठन किया जाए और इसी का प्रचार-प्रसार किया जाए? 'कोई नहीं' को मिले मत वर्तमान व्यवस्था से त्रस्त, क्षुब्ध, असहाय लोगों के मत हैं। ये मत भविष्य के प्रति निराश लोगों के हैं, ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। लेकिन इतना जरूर है कि वर्तमान राजनीतिक संस्कृति के व्यक्तियों-दलों से सुपरिवर्तन का इन्हें किसी तरह का भरोसा नहीं है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनका सपना टूटता रहा है, विश्वास हर बार छला गया है। इसलिए ये अब किसी वायदे पर यकीन न करके सब को अस्वीकार कर रहे हैं। लाखों लोग घरों से निकल कर और समय निकाल कर यह बता आते हैं कि कोई भी उन्हें विश्वास योग्य नहीं लगता।

जैसे किसी एक कार्य-विन्दु पर मोटे तौर पर सहमतियाँ होते हुए भी, इन्हीं सहमतियों के भीतर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाने पर असहमतियों की भिन्नाएँ बहुस्तरीय होती जाती हैं, वैसे ही 'नोटा' के समर्थकों में आपसी अनेकमुखी विषमताएँ हैं, जो कहीं ज्यादा जटिल व विचित्र होंगी। अनेक बार ध्रुव विरोध को अपना चेतन धर्म-कर्म मानकर चलने वाले भी अपने विरोधी से अचेतन रूप में एकजुट हो जाते हैं, वैसे ही अनेक परस्पर घोर विरोधी लोगों का संयोग 'नोटा' पर अप्रत्याशित एकजुटता है। परंतु ऐसा परस्पर विरोध यहीं नहीं, सबमें है, बहुत अधिक है। इसलिए यह विचार स्वतः समाप्त हो जाता है कि 'कोई नहीं' का संगठन खड़ा किया जाए। निश्चित रूप से 'नोटा' का बटन स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विरोध का सशक्त औजार है। लेकिन यह प्रश्न अब भी अनुत्तरित है कि 'इनमें से कोई नहीं' तो फिर कौन? कौन की जरूरत भी कितनी और क्या है? क्या इनमें से किसी के बिना काम नहीं चल सकता? जो लोग 'नोटा' को वोट दे रहे हैं, वे जाने-अनजाने बता तो यही रहे हैं। एक सरकारी-प्रशासनिक अराजकता होती है और दूसरा अराजकता का राज्य-समाज होता है। इन दोनों के बीच 'आत्मानुशासन' की तड़प होती है, जिसके अंशतः या पूर्णतः अभाव में लोकतंत्र भीड़ का ढोंगतंत्र होता है। 'इनमें में कोई नहीं' यानी जो 'नोटा' के लोग हैं, वे इनमें से किसी के भी नहीं हैं, तभी नोटा के हुए हैं। जिस नोटा का कोई नहीं, उसके इतने सारे वोटर! है न अजूबा! यद्यपि यह मुश्किल का काम है, तथापि 'नोटा' लोगों से रायशुमारी द्वारा पूछा जाना चाहिए कि आखिर वे चाहते क्या हैं?

### *शुभकामना का सच*

पन्द्रहवीं लोकसभा के अंतिम माने गए सत्र में सांसदों ने जब एक दूसरे को अगली लोकसभा में भी चुनकर आने की शुभकामनाएँ दीं, तो कम-से-कम दो नेताओं जनता दल (यू) के शरद यादव और बहुजन समाज पार्टी के दारा सिंह चौहान ने 'सभी' सदस्यों की सदन में पुनर्वापसी की बात कही। जाहिर है कि 'सभी' के चुने जाने में वे स्वयं भी शामिल होंगे। यह स्वाभाविक ही है कि किसी भी चुनाव लड़ने वाले की तरह ये दोनों भी खुद के चुने जाने के प्रति संकल्पवान हों, चुने जाने की तीव्र इच्छा रखें। विपक्ष की नेत्री सुषमा स्वराज ने शुभकामनाएँ देते हुए भी जरूर पक्ष-विपक्ष

की भूमिकाओं में अदला-बदली की संभावना सामने रखी। शायद इसलिए कि भाजपा की विपक्ष वाली भूमिका बदली, तो वह सीधे सत्ता पक्ष की ओर जाएगी। लेकिन शरद यादव एवं दारा सिंह चौहान ने यह क्या वह दिया कि सब लोग पुनः जीतकर आएँ। यह तो उन्हें भी पता है कि शुभकामनाओं के सहारे चुनाव जीतना संभव नहीं है। जब उन्हें अपनी शुभकामनाओं की सीमा का पता है, तो फिर क्यों ऐसी बात कही? क्या यह विदाई-बेला का औपचारिक शिष्टाचार मात्र था? ये दोनों कोई नवसिखुआ नहीं हैं। शरद यादव तो पुराने और मँजे हुए खिलाड़ी हैं। केवल औपचारिकता भी निभानी हो, तब भी ऐसा कहने की क्या जरूरत या लाचारी होगी! यदि सारे सदस्य पुनः जीतकर आएँ, तब संसद का वर्तमान दलीय स्वरूप यथावत रहेगा। फिर जो जहाँ है यानी पक्ष-विपक्ष जिस किसी भी भूमिका में है, वहीं रहेगा। जाहिर है कि जनता दल (यू) और बहुजन समाज पार्टी की अपनी संख्यात्मक स्थिति में थोड़ा-बहुत उतार-चढ़ाव के बावजूद कोई अनहोनी न हो तो सीधे सत्ता में आने की संभावना नहीं है, न ही सीधे विपक्ष में बैठने की। दोनों की स्थिति सत्ता पक्ष और विपक्ष के बीच रहकर अपनी प्रासंगिकता बनाए रखने की है। बहुजन समाज पार्टी ऐसी भूमिका का निर्वाह वर्षों से करती रही है। जनता दल (यू) भी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन से अलग होने के बाद से ऐसी उपयोगिता की तलाश में है।

द्रष्टव्य है कि ऐसी शुभकामनाओं के आदान-प्रदान की गाज सबसे अधिक भारतीय जनता पार्टी पर ही गिरनी है, क्योंकि इससे पिछले दो आम चुनावों में हार के बाद मोदी लहर के सहारे इस बार सत्ता में आने का उसका सपना चकनाचूर होता दिखेगा। लोकसभा के वर्तमान दलीय संख्यात्मक स्वरूप में बदलाव के लिए आवश्यक छटपटाहट भाजपा में ही अधिक है और यह उसकी राजनीति का नैसर्गिक धर्म भी है। अतः सभी सदस्यों के पुनः जीतकर आने की कामना उसके सपनों पर कुठाराघात होगी। लेकिन एक उपाय हो सकता है, जिससे साँप भी मर जाए और लाठी भी बची रहे। बहुमत लायक वर्तमान संसद-सदस्य यदि भाजपा के टिकट पर चुनाव लड़कर जीत जाएँ, तब शुभकामना भी सार्थक होगी और भाजपा का सपना भी साकार होगा। भारतीय राजनीति में आया राम गया राम की समृद्ध परंपरा को देखते हुए यह कोई अकाल्पनिक बात नहीं है। दल-बदल का खेल बहुत पहले से चलता रहा है। लोकसभा चुनाव तक इसके जोर पकड़ने की संभावना है। फिर भी शायद इतनी बड़ी मात्रा में दल-बदल न हो। परंतु क्या गारंटी है कि जिन सांसदों को भाजपा का टिकट थमा दिया जाए, वे जीत पाएँगे ही। न तो सब सदस्य ऐसा चाहेंगे और जो चाहेंगे, वे भी जीत-हार की संभावना को भाँप कर ही। भाजपा के प्रधानमंत्री पद के घोषित उम्मीदवार पन्द्रहवीं लोकसभा में नहीं हैं, फिर उनके लिए जगह कैसे बनेगी? जो भी हो, शरद यादव एवं दारा सिंह चौहान ने लोकसभा में पहुँचने की मंशा रखने वाले सदन के बाहर के अभिलाषियों को अंगूठा ही दिखाया है। लेकिन जैसी चुनाव-पूर्व सर्वेक्षण रिपोर्ट आ रही है कि जनता दल (यू) एवं बहुजन समाज पार्टी की सीटें कम हो सकती हैं। ऐसे में निवर्तमान सभी सदस्यों की लोकसभा में पुनर्वापसी आत्मकल्याण के लिए आत्मकामना तो नहीं है?

अस्तु, ऐसी शुभकामनाओं से सबसे ज्यादा खुशी कांग्रेस में दिखी और दिखनी भी चाहिए। शरद यादव ने तो मीरा कुमार को सदन की कार्यवाही चलाने के लिए तहेदिल से धन्यवाद देते हुए दुबारा उसी स्थान पर लाने के अपने भावी प्रयास का परोक्ष संकेत भी किया। स्पष्ट है कि कांग्रेस यदि सत्ता पक्ष की ओर न हो तो मीरा कुमार चाहे जैसी भी हों, उनका अध्यक्ष बनना मुश्किल होगा। कांग्रेस के सत्ता से बेदखल होने की स्थिति में यदि महिला को ही लोकसभा अध्यक्ष बनाने की बात होगी, तो महिला दूसरे दलों में भी हैं और ऐसे ही दलित भी। फिर ईसाई, सिख, मुसलमान, आदिवासी तथा अन्य वर्गों के लिए भी ऐसी माँग हो सकती है। पन्द्रहवीं लोकसभा के अंतिम सत्र में ऐतिहासिक गतिरोध के बावजूद अपनी यथास्थिति पर संतोष व्यक्त करते हुए सदस्यों ने आगे के लिए भी ऐसी ही अपेक्षा रखी, पर क्या आम जनता भी यही चाहती है? आगामी लोकसभा चुनाव परिणाम से किसी क्रांतिकारी बदलाव की उम्मीद तो नहीं है और 'कोई नृप होहिं हमें का हानी, चेरी छाड़ि न होइब रानी' के अटल पथ पर चलने वाले विवश लोग भी बहुसंख्या में हैं; परंतु लोकसभा की वर्तमान दलीय स्थिति को इसी रूप में जनता कतई नहीं देखना चाहती है, जिसका लक्षण भी दिखाई दे रहा है। लोकसभा में राजनीतिक दल व सदस्य एक दूसरे को चाहे जो शुभकामनाएँ दे लें, पर आम जनता को क्या शुभकामनाएँ मिली हैं और आम जनता उन्हें क्या शुभकामनाएँ देती है- यह देखना बाकी है। सदस्यों की आपसी प्रशंसा के साथ शुभकामना तो बस कवि व आलोचक का एक-दूसरे को प्रदत्त प्रमाण-पत्र मात्र है कि 'तू सबसे बड़ा कवि' और 'तू सबसे बड़ा आलोचक।'

## *अनारक्षित मानसिकता*

कई बार तथाकथित ऊँची जाति वालों से सुनने को मिलता है कि आरक्षण ने हमारा गला घोंट दिया है। नौकरी अब सवर्णों को नहीं मिल सकती। ऐसा कहने वाले प्रायः वे लोग होते हैं जो किसी नौकरी के लायक ही नहीं होते। यदि सारे पद सामान्य श्रेणी के हो जाएँ, तब भी ऐसों को नौकरी न मिले, फिर भी आरक्षण को कोसा जाता है। इसी तरह पिछड़ी व निचली कही जानेवाली जातियों के वे लोग भी आरक्षण-आरक्षण की रट लगाए रहते हैं, जिन्हें पिछले पैंसठ साल के आरक्षण से कोई लाभ नहीं मिला है और न अगले बहुत बरसों तक मिलने की कोई दूर-दूर तक संभावना दिखती है। सामान्यतः मध्यम व निचले स्तर के सवर्ण कहे जाने वाले लोग आरक्षण के विरोधी और अवर्ण कहे जानेवाले लोग आरक्षण के समर्थक हैं। इस विभाजन का आधार पूर्णतया जातीय है। उच्चपदस्थ लोगों में भी जातीय विभाजन है। जो थोड़े लोग जातीय-वर्गीय स्वार्थ से परे समर्थन-विरोध करते हैं, वे भी स्वयं का हित सुरक्षित देखकर ही। उच्च स्तर पर निचली कही जाने वाली जातियों के नेता प्रायः आरक्षण के समर्थक हैं और ऊँची कही जानेवाली जातियों के प्रायः नेता मन-बेमन से आरक्षण के समर्थक।

कई बार सोचने को विवश होना पड़ता है कि क्या आरक्षण नहीं होता तो हमें अच्छा करियर सुलभ हुआ होता! लगता है कि आरक्षण न भी

होता यानी सारे पद अनारक्षित होते, तब भी कोई फर्क नहीं पड़ता। दूसरी तरफ आरक्षित वर्ग में होते, तब भी कोई फायदा न उठा पाते, क्योंकि चाहे सामान्य श्रेणी हो या आरक्षित, लाभ कुछ खास किस्म के योग्य ही उठा पाते हैं। हमारे लिए क्या आरक्षित, क्या सामान्य - सब हमारे मूल लक्ष्य के प्रतिकूल रहा है और इसी प्रतिकूलता से लड़ना पड़ता है। भ्रष्ट, बेईमान, काहिल व अक्खड़ लोग सामान्य श्रेणी में भी हैं और आरक्षित श्रेणी में भी। दोनों ने प्रशासनिक कार्यालयों में जातीय बहुलता का बोध कराते हुए भी उसके मूलाधार को पुष्ट करने में कोई बड़ा योगदान नहीं दिया है, उल्टे प्रशासन को मूल लक्ष्य से भटकाने का काम किया है।

पिछले दिनों कांग्रेसी सांसद जनार्दन द्विवेदी ने आरक्षण के औचित्य पर प्रश्न-चिन्ह लगाया तो पहले की तरह न समर्थन में और न विरोध में ज्यादा बहस-विवाद हुआ। समर्थन अधिक इसलिए नहीं मिला, क्योंकि इसे सवर्णों की अभिजात मानसिकता मान लिया जाता। ज्यादातर आरक्षण के विरोधी तथाकथित सवर्ण ही हैं, हालाँकि इनमें से भी बहुत सारे अपनी आर्थिक जर्जरता को आधार बनाकर अब आरक्षण चाह रहे हैं। इस दिशा में कुछ-कुछ सफलता मिलने लगी है। जब तक पूरी नहीं मिलती, तब तक ये परंपरागत आरक्षण के विरोधी हैं। चूँकि जनार्दन द्विवेदी भी ब्राह्मण हैं, अतः उनके कथन को भी सवर्ण मानसिकता का प्रलाप कहा जा सकता है। विरोध भी अधिक नहीं हुआ, क्योंकि उनके बयान से आरक्षण की मौजूदा संरचना पर कोई खतरा नहीं है। उनका बयान आरक्षण के अस्तित्व का बाल बाँका भी न कर पाएगा। न उनकी अपनी पार्टी पर कोई असर पड़ना है और न अन्य पर। कोई 'पिछड़ी' या 'दलित' हस्ती भी समर्थन इसलिए नहीं कर पायी, क्योंकि उसके समर्थन को भी सवर्ण मानसिकता के प्रति अनुकूलन के रूप में देखा जाता। हालाँकि आरक्षण से पिछड़ों, दलितों के सशक्त बने लोग भी प्रायः चाहे 'सवर्ण' न कहें, पर सामंत की तरह व्यवहार करते हैं, कई मामले में तथाकथित सवर्णों से अधिक, शायद नया-नया बने हैं इसलिए। चाहे वे आरक्षण का विरोध न करें, पर बाकी प्रवृत्तियाँ उनके अंदर सवर्णों की तरह घर कर रही हैं और जो कुछ पहले से उनकी अपनी हैं, वे तो हैं ही? हालाँकि दावा किया जाता है कि उनके पास अछूतपन के दंश एवं हीनता की व्यथा के सिवा कुछ नहीं है, जो कुछ सही होकर भी सरासर गलत है। कहा जा सकता है कि जिन लोगों का आरक्षण या अन्य लाभ से सबलीकरण हुआ है, वे अनेक मामलों में उन्नत होकर भी अभी भी 'पिछड़ा' या 'दलित' ही बने हुए हैं या बने रहना चाहते हैं। आरक्षण आज सामाजिक चेतना का विषय कम, राजनीतिक स्वार्थ का विषय अधिक बन चुका है। जिस प्रकार लोकनेताओं ने लोकभावनाओं को अपने प्रति लोकतंत्र के नाम पर अनुकूलित कर लिया है, ठीक उसी प्रकार दलितों-पिछड़ों के हिमायती नेताओं ने व्यापक दलित-पिछड़ी भावनाओं को अपने प्रति अनुकूलित कर लिया है। हित इनका अपना होता है और उन्हें बाँधे-बरगलाए रखने के लिए ऐसे मुद्दों पर कुछ-कुछ करते रहते हैं।।

आरक्षण भारतीय संविधान, समाज, सरकार, लोकतंत्र, प्रशासन और राजनीतिक दलों की बुनावट का अभिन्न आधार बन चुका है। इसकी अत्याज्यता की मजबूरी के कारण इसमें घुसने की मारामारी मची है। 1950 में जिन जातियों, उप-जातियों को दलित-पिछड़ा नहीं माना गया था, वे धीरे-धीरे दलित-पिछड़े की सीमा में अब आकर प्रविष्ट हो रही हैं। इस प्रकार दलित या पिछड़े वर्गों में शामिल होने वाली जातियों की संख्या बढ़ रही है। जो कल तक दलित-पिछड़े के रूप में अनुसूचित नहीं थे, वे अब हो रहे हैं। कहाँ दस साल में दलितों को सशक्त बनाने का लक्ष्य था और कहाँ अब दलित-पिछड़े बढ़ते जा रहे हैं। सबल-सशक्त जातियाँ और उनके चालाक लोग अपने को दलित-पिछड़े अनुसूचित कराकर लाभ लेने को तत्पर हैं, जैसे कुछ आरक्षण पा लेने से मात्र से सब कुछ ठीक हो जाएगा।

वस्तुतः सारी समस्या आरक्षण को आर्थिक सशक्तीकरण, जातिवाद उन्मूलन, सामाजिक समानता और प्रशासनिक लोकोन्मुखता का पर्याय मान लेने के कारण उत्पन्न हुई है। प्रशासनिक सेवा-कार्य को खपाने और रोजगार का जरिया भर मान कर आरक्षण चलता है। ऐसा नहीं कि सिर्फ आरक्षित वर्गों के लोगों के लिए यह रोजगार, करियर और रुतबा बढ़ाने वाला साबित हुआ है, बल्कि गैर-आरक्षित वर्गों के व्यक्तियों ने भी इसे इसी रूप में अपनाया है। फलतः प्रशासन लुंज-पुंज, दायित्वहीन, समयबद्धता से विहीन, भ्रष्टाचार, कामचोरी, लालफीताशाही से ग्रस्त होकर उन्हीं के हितों में अड़ँगा डाल रहा है जिनके हित के लिए इसका अस्तित्व बना है। यह सब कमाने, खाने, खपाने की नीति के कारण हुआ है। फलतः सामान्य वर्ग और आरक्षित वर्ग दोनों ने मिलकर आपसी प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद लोकहित का गला घोंट दिया है। अपना उल्लू मात्र सीधा करना इनका उद्देश्य बन गया है। यह पूरा तंत्र यानी सिस्टम लोकसेवा से विलग होकर लोकतंत्र की बुनियादी मान्यताओं पर प्रहार कर रहा है। आज नियमानुकूलता, संवेदनशीलता और समयबद्धता की कसौटी पर बड़ा से बड़ा लोकतांत्रिक निकाय खरा नहीं उतर पा रहा है। ये तंत्र अपने भीतर और अपने से संबंधित कार्यों में बिल्कुल संकीर्ण, स्वार्थी गुटों, गिरोहों में तब्दील हो चुके हैं। लेकिन इसका कारण आरक्षण मात्र नहीं है, इसलिए आरक्षण खत्म कर देने से यह सब ठीक हो जाएगा, ऐसा भी नहीं है। समाज में भोजन, वस्त्र, आवास न्यूनतम स्तर पर ही सही, सबको मुहैया कराने की जरूरत है, प्रशासनिक ढाँचों को सुदृढ़ कर चुस्त-दुरुस्त, समय का पाबंद व कार्य कुशल बनाने की आवश्यकता है। प्रशासनिक तंत्र निचले स्तर को छोड़कर किसी भी व्यक्ति या जाति को खपाने का साधन बन जाए, तो इससे बड़ा कोई आधुनिक अभिशाप नहीं हो सकता जो वंशानुगत अभिशापों से मुक्ति के लिए पनपा है। फिर प्रशासन प्रशासन नहीं रह सकता। दुर्भाग्य से आज यही स्थिति है।

आरक्षण ने कुछ जगह ऊपरी औपचारिक तौर पर लोगों को सन्निकट लाने का काम किया है, पर आंतरिक कटुता-दुराव बढ़ाया है। यह कटुता-दुराव बिना आरक्षण के भी रहा है लेकिन वह दूसरे ढंग का था। आरक्षण से परे याद कीजिए जब उत्तर प्रदेश में मायावती के नेतृत्व में मजबूत राजनीतिक विकल्प उभरा, तो पिछड़े ही नहीं, घोर सवर्ण-सामंत जानी जाने वाली जातियों ब्राह्मणों-राजपूतों तक ने बहुजन समाज पार्टी की ओर रुख करने में संकोच नहीं किया, वह सब कुछ बहुत अदब से किया जो मायावती चाहती थीं। बड़ी संख्या में इन जातियों के लोगों ने मायावती

को वोट भी दिया, विधायक-सांसद और मंत्री बनकर सत्ता में भागीदार बने। क्या यह सवर्ण मानसिकता में बदलाव था या फिर जिस किसी से भी मिल जाए, उससे सत्ता की मलाई खाने का अवसरवाद था? वस्तुतः यह परंपरागत अवसरवाद ही था जो स्वार्थ-सुख के लिए कहीं तक किसी भी हद तक जाने को क्षुद्र-पिपासित रहता है। न यह मन का मिलन था और न इस बोध का प्रस्फुटन कि जातियों-वर्गों के आधार पर कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता, बेशक ऐसी रूढ़ियाँ रही हैं, बल्कि कर्म व योग्यता के आधार पर ऊँचा-नीचा होता है। सदैव ऐसा भेद रहेगा और रहना भी चाहिए। जाति-वर्ग का भेद इसी योग्यता व कर्म भेद का विकृत रूप है। आज चाहे समाज में जाति-भेद की दीवारें टूट रही हों, पर भेदभाव के अन्यान्य स्तर गहरे में सम्पुष्ट हो रहे हैं। भारतीय जन समाज एक-दो पाखंड से निकलते हुए बहुत सारे पाखंडों-आडंबरों एवं मुखौटों में सुचारु जीवन जीने का अभ्यस्त बनता जा रहा है। कुछ ही समय पूर्व उत्तर प्रदेश में पुलिस उपाधीक्षक जियाउल हक की मौत पर जब अनुकंपा के आधार पर नौकरी देने की बात हुई, तब इस नौकरी को लेने के लिए जियाउल हक की पत्नी के अतिरिक्त परिवार व ससुराल वालों ने अलग-अलग सूची दी और कई नौकरी देकर भी प्रिय परिजन की मौत से मिली नौकरी का विवाद मजबूरी में ही शांत हो पाया। इससे जाहिर होता है कि नौकरी से अब वृहद परिवार व समाज का भला होने की बजाय व्यक्ति का निजी स्वार्थ पूरा होता है। आरक्षण एक प्रकार की जाति आधारित अनुकंपा है जो निजी आर्थिक हित का स्रोत उपलब्ध कराता है। जिसे यह स्रोत न योग्यता से और न अनुकंपा से उपलब्ध होगा, वह व्यथित होगा ही। अपनी या दूसरी जाति या वर्ग को मिली पक्षपाती अनुकंपा या आरक्षण से वंचित व्यक्ति या समाज की अंतर्वेदना से विद्धोह पनपेगा। आंतरिक विद्वेष सदैव ज्यादा खतरनाक होता है बाहरी लड़ाई की अपेक्षा। जहाँ बाहरी लड़ाई में भीतरी एकलयता होती है, वहाँ कोई बड़ा संकट उपस्थित नहीं होता। लेकिन जहाँ आडंबरी-दिखावटी समानता के भीतर आंतरिक असंतोष, विद्वेष, घृणा-नफरत का विषाक्त वातावरण बनता है, उसका परिणाम कितना विध्वंसक हो सकता है, विचारणीय है। जिन रहनुमाओं की नजर बाहरी ऐक्य पर बल देने तक सीमित रहती है, उनका समाज में ज्यादा स्थायी असर नहीं होता। लेकिन जब इतने भर से पक्ष-विपक्ष सब संतुष्ट हों, तो फिर सूक्ष्म धरातल पर सकारात्मक बदलाव की क्या अपेक्षा है?

आरक्षण हथकंडा बन चुका है मौलिक कार्य-योजना से विपन्न राजनीति व प्रशासन के लिए, जहाँ गरीब-लाचार दमित-शोषित लोगों के सर्वांगीण विकास का कोई कार्यक्रम नहीं है। यह ऐसा वर्ग है जो आरक्षण या आरक्षण से परे लाभ लेने की स्थिति में नहीं है। यदि इनके लिए समुचित भोजन, आवास, वस्त्र, स्वास्थ्य व शिक्षा पर ध्यान दिया जाए, तो ये आरक्षण से लाभ लेने की स्थिति में पहुँच सकेंगे और फिर तो ये बिना आरक्षण के भी अपना विकास कर सकेंगे। इसलिए आरक्षण न तो जातीय आधार पर और न आर्थिक आधार पर जायज है। नौकरी सिर्फ कार्यदक्षता, ईमानदारी, जवाबदेही, कर्मठता के आधार पर दी जानी चाहिए और प्रोत्साहन भी सभी वर्गों में इन्हीं गुणों को विकसित बनाने पर दिया जाना चाहिए। समाज में जो जहाँ जैसा हो, उसे कार्य का अवसर प्रदान करने की नीति होनी चाहिए और सबको फलने-फूलने का मौका उपलब्ध कराने की मंशा। सभी वर्गों के मानव मस्तिष्क व शारीरिक संपदाओं का भरपूर उपयोग होना चाहिए। सीमित पदों को सामान्य व आरक्षित वर्गों में बाँट देने से व्यापक समाज हित कैसे संभव हो सकता है? दीर्घकालिक आरक्षण की बैसाखी अलगाव व आत्महीनता के सिवा कुछ खास नहीं दे पाया है।

आरक्षण से कुछ तुच्छ स्वार्थों की फलापूर्ति हो सकती है, पर व्यक्ति 'महान' नहीं बन सकता। पर कौन महान बनना चाह रहा है? आधुनिक चिंतन के एक पक्ष में 'महानता के आतंक से मुक्ति' का नाद भी सुनाई पड़ता है। पर महानता ही क्यों, यहाँ सामान्य या आम आदमी कहने पर भी बिदकने वाले लोग हैं। असाधारण वेदना का साधारणीकरण भी कइयों को नागवार गुजरता है। जो भी हो, लेकिन नामदेव, दादू, रज्जब, कबीर, रसखान, मीरा, रविदास, अम्बेडकर आदि आखिर बिना आरक्षण के ही तो महान बने हैं। यह सही है कि जमाना नया है। अब मायावती, रामविलास पासवान, मीरा कुमार, सुशील कुमार शिंदे का जमाना है जो आरक्षण से ही 'महान' बने हैं। आरक्षण जिन्हें मिला है, उन्हें भी एक बार ही मिलना चाहिए। बाकी समय अपनी कार्यकुशलता के बल पर आगे बढ़ने का मौका दिया जाना चाहिए। इसलिए तथाकथित पिछड़ी-निचली जाति के नेताओं में से कुछ को आगे आकर पहले स्वयं को आरक्षित श्रेणी से बाहर निकालना होगा, आरक्षण के किसी भी लाभ से परहेज करना होगा। फिर स्वजातीय समाज को आरक्षण से विमुख करने का रास्ता अख्तियार करना चाहिए। बिना आरक्षण के वह सब कुछ संभव करना होगा जो आरक्षण से चाहा तो गया है, पर मिला नहीं है। आखिर भारत की राजनीति में बिना आरक्षण के ही पिछड़े नेताओं का वर्चस्व है, जिनके समकक्ष कोई सवर्ण नेता प्रतिस्पर्द्धा में नहीं टिक पाता। मुलायम सिंह यादव, बेनी प्रसाद वर्मा, लालू प्रसाद, नीतीश कुमार, शरद यादव, नरेन्द्र मोदी, उमा भारती, बाबू लाल गौर, सिद्धरमैया, कल्याण सिंह जैसे अनेक नाम हैं। जैसे खुली प्रतियोगिता में पहले से सबल लोग बाजी मारते हैं, वैसे ही आरक्षण में पिछड़ों-दलितों के भीतर के सबल लोगों का वर्चस्व है। जैसे सशक्त सवर्ण अपना अधिकार जमाये रखना चाहते हैं, वैसे सबल पिछड़े-दलित भी अपना वर्चस्व अपने वृहतर वर्ग के लिए नहीं छोड़ना चाहते, दोनों जगह मानसिकता एक ही है। चुनौती कभी मिल पाती है तो अपने भीतर के पिछड़े-दमितों भी ओर से ही।

पदों की संख्या कुल जनसंख्या की दहाई प्रतिशत तक भी नहीं है, इसी अल्प पद-संख्या के लिए बंदर-बाँट व कड़वाहट वाली प्रतियोगिता कराकर नब्बे प्रतिशत से अधिक के हितों की अनदेखी बृहतर लोकहितों के प्रति दकियानूसीपन दर्शाता है एवं दक्षता निर्माण द्वारा उन्नत समाज बनाने की बजाय कुछ लोगों को कुछ जगह खपाने पर केन्द्रित रहता है। यहाँ जोर आर्थिक व सामाजिक विकास के लिए रोजगार द्वारा एडजस्टमेंट पर होता है, कार्यकुशल व बेहतर प्रबंध-प्रशासन द्वारा समाज निर्माण पर नहीं, परंतु इसमें आरक्षण की भूमिका छोटे अंश-मात्र की है, बाकी चीजें अधिक जिम्मेदार हैं। ✱